'वैश्वीकरण : भारत की सम्प्रभुता पर हमला'

पिछले वर्ष, अक्टूबर 2002 में 'न्यू विस्टास पब्लिकेशन' ने, साम्राज्यवाद और भारत के अन्तरसंबन्धों पर एक किताब छापी। किताब का नाम ''वैश्वीकरणः भारत की संप्रभुता पर हमला''(Globalization:An Attack On India's Soverieignty) और इसके लेखक का नाम अरविन्द है। इस विषय पर निकलने वाले ढेर सारे साहित्य में इस पुस्तक की अहमियत इस बात में है कि पुस्तक का लेखक समाजवादी रास्ते का राहगीर है और संशोधनवाद का पुरजोर विरोधी। लेखक CPI-ML(PW) और MCC जैसे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठनों का पुरजोर समर्थक है। पुस्तक की खासियत यह है कि यह पुस्तक वैश्वीकरण विरोधी,साम्राज्यवाद-विरोधी लेखन है। यह पुस्तक सुधारवादी नजरिये का भंडाफोड़ करने की कोशिश करती है और यह साम्राज्यवाद से भारत के पूर्ण विच्छेद की वकालत करती है और साम्राज्यवाद के विरूद्ध आर-पार के संघर्ष की वकालत करती है। भाकपा/माकपा जैसे संशोधनवादियों के साम्राज्यवाद-विरोध के बरक्स यह पुस्तक सही अर्थों में साम्राज्यवाद-विरोध को स्थापित करने की कोशिश करती है। स्वयं सेवी संगठनों (N.G.O's) की परिघटना का भी इस पुस्तक में अच्छा भंडाफोड़ है। पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें दिखाने की कोशिश की गयी है कि कैसे 'हिन्दुत्व' का अभियान साम्राज्यवादियों की 'वैश्वीकरण' मुहिम का पूरक है।

ऐसी तमाम विशेषताओं और सकारात्मक बातों के बावजूद इस पुस्तक में कुछ मूलभूत कमियां/गलतियां हैं। पुस्तक की मूलभूत कमियों/गलतियों का स्रोत वह सैद्धान्तिक चौखटा है जिसके भीतर लेखक ने सारा विश्लेषण किया है और अपने तर्क निर्मित किये हैं। चूंकि वह सैद्धान्तिक चौखटा ही भारत और दुनिया के वर्तमान यथार्थ से बेमेल है, इसलिये लेखक को पुस्तक में ढेर सारी महत्वपूर्ण बातें छोड़नी पड़ी हैं और अनेक गलत बातें स्थापित करनी पड़ी है। पुस्तक की छोटी या बारीक कमियों को अनदेखा करते हुए हम सैद्धान्तिक चौखटे से सम्बन्धित इन मूल कमियों को अपनी आलोचना की विषय-वस्तु बनायेंगे। यह आलोचना हम इसलिये कर रहें हैं क्योंकि ये कमियां अरविन्द की पुस्तक तक सीमित नहीं है, ये हमारे आन्दोलन की साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थितियों की आम दिक्कतें हैं। अतः इन्हें चिन्हित करना और ठीक करना निहायत जरूरी है। इनके बने रहते हमारी साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना की धार भोथरी ही बनी रहेगी।

पुस्तक की इस आलोचना में हम अपनी ओर से सामान्यतः कोई नये आंकड़े व तथ्य नहीं देंगे। हम अरविन्द द्वारा प्रस्तुत तथ्यों व आंकड़ों के आधार पर ही उनके सैद्धान्तिक चौखटे की कमियों को उजागर करेंगे। हां,गलत अवस्थिति की जगह सही अवस्थिति स्थापित करने के लिये यदि हमें कहीं कोई नया तथ्य प्रस्तुत करना पड़े तो वह हमारी मजबूरी होगी। परन्तु पुस्तक की मूल कमियों की आलोचना शुरू करने से पहले हम आंकड़ों की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में अपनी शंकायें व्यक्त करना चाहेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि अरविन्द ने बुर्जुआ अखबारों व पत्रिकाओं से आंकड़ों व तथ्यों का संग्रह करते समय वह सावधानी नहीं बरती जो एक कम्युनिस्ट को बरतनी चाहिये। बुर्जुआ पत्रकार लापरवाह बने रह सकते हैं परन्तु इतिहास निर्माताओं के लिये यह दुर्गुण अक्षम्य है।

किताब में कई जगह प्रयुक्त आंकड़ो पर संदेह होता है। इनमें से कुछ उदाहरणस्वरूप हम यहां दोहरा रहे हैं(चूंकि पुस्तक हमें अंग्रेजी में ही उपलब्ध हुई

है, इसलिये किताब के जिन भी अंशों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है, वह अनुवाद हमारा है)।

''भारत के छोटे पैमाने के क्षेत्र (Small Scale sector) के आकार का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् 2000-2001 में इनमें 3.3 लाख इकाइयां थी, इनमें 1.8 करोड़ लोग काम करते थे और यह 66,250 करोड़ रूपये का उत्पादन करता था।'' (पृष्ठ-153) यह कतई अविश्वसनीय है। इतने बड़े देश में मात्र 3.3 लाख छोटे पैमाने की इकाइयां नहीं हो सकती हैं। भारत में पूंजीवाद का आधार इतना छोटा नहीं है, शायद इतनी या इससे ज्यादा वे इकाइयां हैं जो रोगग्रस्त होकर बन्द हो चुकी हैं। हमारी जानकारी के मुताबिक भारत में 31 लाख से अधिक छोटे पैमाने की इकाइयां है। अरविन्द द्वारा प्रस्तुत आंकड़ा इसलिये भी गलत है क्योंकि दो पृष्ठ बाद वे स्वयं फरमाते हैं। *''दूसरे शब्दों में 1998-1999 तक 20 लाख छोटे पैमाने की इकाइयों की हत्या की गयी है।''(वही, पृष्ठ-156)* अब यह आंकड़ा दूसरी ओर से अविश्वसनीय है, अतिरंजित है। यदि छोटे पैमाने की इकाइयों में से 2/3 रोगग्रस्त होकर खत्म हो चुकी होतीं तो यहां हालात इतने सामान्य न होते, सरकारें इतने चैन से अपना कामकाज नहीं कर रही होती। ऐसी स्थिति में भारत में राजनीतिक स्थिति अर्जेन्टाइना से कहीं ज्यादा विस्फोटक होती।

एक और आंकड़ा लीजिये *-'' केवल सवारी मोटर गाड़ियों के क्षेत्र में भारत आगे है-चीन की 60,000 कारों के मुकाबले भारत के पास 2 लाख।'' (वही पृष्ठ-159)* नहीं मित्र, भारत में (और शायद चीन में भी) इतनी कम कारें नहीं हैं। इतने से तो भारत के शहरी पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं हो पायेगी, देहात के पूंजीपतियों और मध्य वर्ग के खुशहाल संस्तरों का क्या होगा? यदि भारत में इतनी कम कारें होती तो अब तक देश मे कारों की ब्लैक मार्किट अस्तित्व में आ चुकी होती !

एक तालिका लीजिये :

तालिका x.2

मध्य वर्ग

सालाना आय (रूपयों में) 1992-93 की दरों पर		घरो की संख्या (करोड़ों में) 1989-90	1993-94	1997-98 (प्रक्षेपित)
36,000 तक	(क)	12.2	13.1	13.3
36,000 से 56,000	(ख)	1.4	1.8	2.6
56,000 से 78,000	(ग)	0.4	0.7	1.3
78,000 से ऊपर	(घ)	0.2	0.4	0.8
कुल		14.2	16.0	18.0

(वही पृष्ठ 158)

इस तालिका पर तो अरविन्द का कोई उपासक ही विश्वास करेगा। यदि एक घर में औसतन चार लोग भी मान लिये जायें तो क्या अरविन्द हमें बताना चाहेंगे कि सन् 1989-1990 में भारत में 56 करोड़ से अधिक लोग मध्य वर्ग एवं उसके ऊपर के वर्गों में थे और 1993-1994 आते-आते यह संख्या बढ़कर 64 करोड़ हो गयी। भारत की अर्थव्यवस्था की इतनी खूबसूरत तस्वीर तो भारत के भ्रष्ट अफसर भी नहीं पेश करते!

इन चुनिंदा चुभते हुए उदाहरणों का जिक्र करके हम यह कहना चाहते हैं कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को आंकड़ों,तथ्यों,तर्कों, प्रस्थापनाओं को वैसे ही ग्रहण नहीं करना चाहिये जैसे वे प्रस्तुत किये गये हों। कम्युनिस्टों को अपना दिमाग लगाना चाहिये और सत्य तक पहुंचने का प्रयास करना चाहिये। बहुत मुमकिन है कि तथ्य गलत हों,और प्रस्थापनायें पुरानी पड़ चुकी हों, जिन्दगी से बेमेल हो चुके हों। अब हम बारी-बारी से पुस्तक की मूलभूत कमियों को लेंगे।

सम्प्रभुता का सवाल

यदि इस पुस्तक के सैद्धान्तिक चौखटे की बात की जाय तो यह पुस्तक वर्तमान भारत को (21वीं सदी के भारत को) एक अर्ध-सामंती, अर्ध-औपनिवेशिक देश मानती है। पुस्तक का कहना है कि 1947 में भारत एक उपनिवेश से एक अर्ध-उपनिवेश में परिवर्तित हो गया और अब (1991 से) आर्थिक सुधारों की बदौलत यह अमेरिका का नव-उपनिवेश (एक तरह का उपनिवेश) बनने की ओर अग्रसर है। पुस्तक स्पष्ट तौर पर कहती है कि 1947 की आजादी नकली (fake) आजादी है और भारत एक साम्राज्यवादी शक्ति के नियंत्रण से दूसरी के नियंत्रण में आता-जाता रहा है - पहले ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के नियंत्रण से अमेरिकी साम्राज्यवादियों के नियंत्रण (control) में,फिर सोवियत साम्राज्यवादियों के नियंत्रण में और दोबारा फिर अमेरिकी साम्राज्यवादियों के नियंत्रण में। पुस्तक भारत के बड़े पूंजीपतियों को साम्राज्यवाद का दलाल (compradore) बताती है,उन्हें साम्राज्यवाद के गोद के कुत्ते (lap dog) बताती है। पुस्तक भारत के छोटे पूंजीपतियों के एक हिस्से में इस बात की गुंजाइश देखती है कि वे संघर्षों की उच्च मंजिल में साम्राज्यवाद के विरोध में क्रांतिकारी शक्तियों के साथ आ खड़े होंगे। उक्त सैद्धान्तिक चौखटे को स्वीकार करके लेखक अरविन्द भारत की सम्प्रभुता (sovereignty) के सवाल से जूझते हैं।

इस पुस्तक का शीर्षक है ''वैश्वीकरणः भारत की संप्रभुता पर हमला''। यह शीर्षक पुस्तक की अन्तर्वस्तु के अनुकूल है। पूरी पुस्तक में लेखक इसी बात को स्थापित करते हैं कि कैसे-कैसे 1991 के बाद से साम्राज्यवादी (विशेषकर अमेरिकी साम्राज्यवादी) भारत की सम्प्रभुता का ह्रास कर रहे हैं और भारत की गुलामी को बढ़ा रहे हैं। पुस्तक में इस प्रक्रिया का अच्छा-खासा वर्णन है। इस पुस्तक में न केवल सम्प्रभुता के ह्रास का लेखा-जोखा लेने की कोशिश की गयी है बल्कि उन तमाम कदमों, सरकारी नीति में परिवर्तनों,कानून में परिवर्तनों... का विस्तृत वर्णन भी है जिन की बदौलत यह ह्रास हुआ है। अर्थात् न केवल परिणाम(घटी हुई सम्प्रभुता) बल्कि कारकों (1991 के बाद उठाये गये कदम) का सविस्तार वर्णन किताब में है,मसलन - *''...हमें समझने की जरूरत है कि व्यापार एवं निवेश का उदारीकरण साम्राज्यवादियों एवं उनके दलालों द्वारा भारत जैसे देशों की लूट की मूल शर्त है, चाहे इससे विऔद्योगीकरण या जन-कंगाली ही क्यों न होने लगे। वैसे तो यह, वैश्वीकरण के इस दशक के बाद सर्वविदित है, और 'दूसरी पीढ़ी के सुधारों' के तहत यह बेतहाशा गति से जारी है। भारत के पेटेंन्ट कानूनों में परिवर्तन,आयात पर मात्रात्मक बंदिशों का हटाया जाना, विदेशी बैकिंग के लिये उदारीकरण, रूपये का चालू खाते में परिवर्तन और अब पूंजीगत खाते में परिवर्तनीयता की ओर कदम, ऐसे निर्यात संसाधन क्षेत्रों का निर्माण जहां भारतीय कानून लागू ही न हों, देशपारी निगमों विशेषकर सूचना प्रौद्यौगिकी क्षेत्र के निगमों के लिये विदेशों की तुलना में बहुत सस्ते श्रम के इस्तेमाल हेतु 'आउट-सोर्सिंग', विदेशी पूंजी निवेश के रास्ते में सारी अड़चनें हट जाना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली का निष्क्रिय किया जाना, व्यापार के वैश्वीकरण से सम्बन्धित सैकड़ों नीतियां अब तक लागू की जा चुकी हैं। सैकड़ों को आगे लागू करने की तैयारियां हैं, जो कि दोहा समझौते के क्रियान्वयन के बाद और भी मारक हो जायेंगी...''। (वही, पृष्ठ-81-82)*

यह इस पुस्तक में एकमात्र बयान नहीं है,बल्कि पुस्तक ऐसे ही बयानों से भरी पड़ी है कि कितनी भारी तादाद में भारत की संप्रभुता का ह्रास हो चुका है और कितना अभी आगे होने जा रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि यह वर्णन गलत नहीं है,यह वर्णन सही है। ऐसे वर्णनों को पढ़ने पर पाठक को सहज एहसास होता है कि भारत के पास केवल नाम या रूप में नहीं बल्कि वास्तविक अर्थों में कोई बहुत मूल्यवान चीज थी जो अब खोई जा रही है। इतना ही नहीं पाठक को यह भी एहसास होता है कि ह्रास इतना तेज है और उसकी मात्रा इतनी ज्यादा है कि मात्रा गुण में बदल सकती है। वह चीज क्या है और यह कहां से आयी? वह चीज एक हद तक की संप्रभुता है। लेखक इसके लिये सीमित संप्रभुता (limited sovereignty) शब्द का इस्तेमाल करते हैं। *''...जिस रफ्तार से यह पराश्रितता बढ़ती जा रही है, वह सीमित संप्रभुता जो शायद अब तक रही हो,भी पूर्णतः समाप्त हो जायेगी।'' (वही, पृष्ठ-206)* यानि मात्रा गुण में बदल जायेगी-भारत एक सीमित संप्रभुता वाले देश से संप्रभुताविहीन देश में बदल जायेगा।

लेकिन यह सीमित संप्रभुता कहां से आयी? इस प्रश्न का कोई जवाब अरविन्द नहीं देते। वे इस प्रश्न को उठाते ही नहीं हैं। इतना तय है कि यह 1947 के पहले अस्तित्वमान नहीं थी, कि यह 1947 के बाद अस्तित्व में आयी और इसी काल में इसका विकास हुआ, कि 1991 के बाद से यह घट रही है। घटने का मतलब यह नहीं होता कि वह चीज विलुप्त ही हो जायेगी। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। हमारा विश्लेषण- है कि वैश्वीकरण के दौर में संप्रभुता में ह्रास के बावजूद भारत एक संप्रभुताविहीन देश नहीं बनेगा। बहरहाल,अभी प्रश्न यह उठा हुआ है कि यह सीमित संप्रभुता कैसे अस्तित्व में आयी? इस प्रश्न का एक संभावित उत्तर यह हो सकता है कि 1947 के बाद के काल में राष्ट्रवादी संघर्ष इतना उग्र हो गया कि 'दलाल नौकरशाह पूंजीपति वर्ग' और उसके आका साम्राज्यवादियों को पीछे हटना पड़ा,राष्ट्रवादी आन्दोलन को रियायतें देनी पड़ी,राष्ट्रवादी सुधार करने पड़े। दूसरा संभावित उत्तर यह हो सकता है कि भारत के बड़े पूंजीपति साम्राज्यवादियों के टुकड़खोर,गोद के कुत्ते,दलाल इत्यादि हैं ही नही, जिनका विकास देश की साम्राज्यवाद पर बढ़ती पराश्रितता पर निर्भर करता हो। कि ये बड़े पूंजीपति स्वयं साम्राज्यवाद से एक हद तक का पार्थक्य चाहते रहे हों, कि इनके वर्ग हित सम्प्रभुता की मांग करते हों,और 1947 के बाद वह अनुकूल परिस्थिति थी जिसमें इन हितों की एक हद तक पूर्ति की जा सकती हो।

इतिहास के पुनरावलोकन से यह नहीं दीखता कि '50, '60 व '70 के दशकों में (जिन दशकों में यह संप्रभुता अस्तित्व में आयी और उसका एक हद तक का विकास हुआ) भारत में एक के बाद एक उग्र राष्ट्रवादी संघषों की लहरें उठ रही हों,जिनकी बदौलत देशी शासक वर्ग एवं साम्राज्यवाद दोनों को पीछे हटना पड़े। उस दौर में जन-संघर्ष थे और राष्ट्रवादी चेतना पनप रही थी और सीमित संप्रभुता को पैदा करने में इनकी भूमिका है, लेकिन ये संघर्ष इतने सशक्त नहीं थे कि अपने दम पर अकेले ही इतनी बड़ी चीज खड़ी कर दें, जिसका परोक्ष में वर्णन करते-करते अरविन्द थकते नहीं हैं,और 263 पृष्ठ लिख डालते हैं। भारत की सीमित संप्रभुता को पैदा करने में और उसके आकार को बढ़ाने में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका शासक पूंजीपति वर्ग के वर्ग हितों की भी है। हां,जैसे इस वर्ग ने 1947 के पहले भारतीय जनमानस के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों का इस्तेमाल सत्ता तक पहुंचने में किया, वैसे ही इस वर्ग ने 1947 के बाद जनता की राष्ट्रवादी चेतना का इस्तेमाल अपने वर्ग हितों में आगे भी किया। इस नीति ने 1947 में उसे सत्ता दिलवाई और उसके बाद के काल में साम्राज्यवाद से सीमित अलगाव,आटार्की,सीमित संप्रभुता।

यह संप्रभुता वास्तविक (real) थी, नाममात्र(nominal) की ही नही, इस सच्चाई को आज झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि उसके एक हद तक ह्रास के

कुप्रभाव भारतीय समाज में आज बहुत साफ तौर पर दिखाई दे रहे हैं। यदि 1991 के बाद समाज की पीड़ा में इतनी वृद्धि न हुई होती तो शायद अरविन्द संप्रभुता के सवाल को लेकर इतने परेशान न होते और इस मुद्दे पर एक पूरी किताब न लिखते। अरविन्द की परेशानी किसी वास्तविक एवं मूल्यवान चीज के क्रमशः खोये जाने की परेशानी है। ऐसे में उचित ही है कि वे इसकी उत्पत्ति पर खुले दिमाग से विचार करें। यदि वे थोड़ी देर के लिये दलाल पूंजीपति वर्ग के सूत्रीकरण को छोड़ दें और भारतीय पूंजीपति वर्ग एवं साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध पर गौर करें तो वे इसकी उत्पत्ति की गुत्थी को सुलझा लेंगे। तब उन्हें यह भी साफ होगा कि भारत के पूंजीपति वर्ग और शेष तीसरी दुनिया के अन्य पूंजीपति वर्ग ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एवं जी-77 जैसे मंच क्यों बनाये - ऐसे मंच इसी संप्रभुता को बढ़ाने के लिये खड़े किये गये थे।

आर्थिक दायरे की सीमित संप्रभुता, जिसके लिये बेहतर शब्द आटार्की है, की उत्पत्ति एवं विकास को ठीक से समझने के लिये राजनीतिक आजादी के प्रश्न को समझना भी जरूरी है। चूंकि, इस मुद्दे पर भी अरविन्द ने एक जड़सूत्रवादी अवस्थिति अपनायी है,इसलिये उनकी समस्यायें और विकराल हो उठती है। वे बार-बार दोहराते हैं कि भारत की राजनैतिक आजादी झूठी (fake) है, नाममात्र (nominal) की है, कि वह केवल रूप (form) में है अन्तर्वस्तु(content) की स्थिति 1947 के पहले जैसी ही है,इत्यादि। अवस्थिति उन्हें वहां ले जाकर खड़ा कर देती है जहां उनके लिये अटार्की की उत्पत्ति की तफ्तीश और भी मुश्किल हो जाती है। जैसे उन्होंने सीमित संप्रभुता के वजूद को स्वीकार किया है, यदि वैसे ही वे एक हद तक की राजनीतिक आजादी की वास्तविकता को स्वीकार लेते तो उनकी मुश्किलें कुछ आसान हो जाती ।

राजनीतिक आजादी का सवाल

अध्याय XI, जिसका नाम, अरविन्द ने राजनीतिक दासता(Political enslavement)रखा है, में वे लिखते हैंः

''आर्थिक निर्भरता और राजनीतिक गुलामी कुछ नहीं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक दूसरे के बिना अस्तित्वमान नहीं रह सकते। यह कहना कि भारत आर्थिक तौर पर पराश्रित है लेकिन राजनैतिक तौर पर आजाद है, जैसे कि कुछ उदारवादी एवं भाकपा/माकपा के संशोधनवादी चित्रित करते हैं, दरअसल अन्तर्वस्तु को छोड़कर रूप को देखना है ।''(वही, पृष्ठ 166)

अरविन्द की निगाह में यदि कोई देश साम्राज्यवाद पर आर्थिक तौर पर पराश्रित है तो वह राजनीति तौर पर कतई आजाद नहीं हो सकता। यह सूत्रीकरण यांत्रिक है और गलत भी है। कम से कम लेनिन इसे नहीं मानते। अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में लेनिन न केवल संक्रमणकालीन रूपों की चर्चा करते हैं बल्कि वे इसका एक ठोस उदाहरण भी देते है। वे लिखते है,*''राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ वित्तीय तथा कूटनीतिक पराश्रितता का इससे कुछ ही भिन्न रुप पुर्तगाल के उदाहरण में देखने को मिलता है। पुर्तगाल एक स्वतंत्र प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य है, पर वास्तव में दो सौ वर्ष से अधिक मुद्दत से,स्पेनी उत्तराधिकार युद्ध (1701-1714) के बाद से वह ब्रिटेन का संरक्षित राज्य रहा है।''(लेनिन, संकलित रचनाएं, खण्ड-5, प्रगति प्रकाशन,मास्को,पृष्ठ-307)* हमारा खयाल है कि चूंकि अरविन्द लेनिन को संशोधनवादी घोषित करने की गलती नहीं करेंगे इसलिये यही रियायत उन्हें उन लोगों को भी देनी चाहिये जो समाजवाद और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों की बदौलत, साम्राज्यवाद के कमजोर पड़ने की स्थितियों में, ऐसे अनेक देशों का जिक्र करते है जो राजनीतिक

स्वतंत्रता हासिल कर चुके हैं परन्तु आर्थिक तौर पर साम्राज्यवाद पर निर्भर है। यदि अरविन्द दुनिया को उसी द्वन्द्ववादी-भौतिकवादी नजरिये से देखें जिससे लेनिन दुनिया को देखते थे तो उन्हें ऐसे अनेक संक्रमणकालीन रूप दिखाई देंगे। भारत ऐसे ही देशों की श्रेणी में आता है जिसे 1947 में वास्तविक राजनैतिक आजादी नहीं मिली थी। 1947 में भारत को जो आजादी मिली वह अत्यंत कमजोर थी जिसका कुछ खास मतलब नहीं था। लेकिन 1954-1955 आते-आते वह वास्तविक हो चुकी थी। 1955 का वादुंग सम्मेलन, जिसमें चीनी लोक गणराज्य ने भी हिस्सेदारी की वह वास्तविक,राजनैतिक आजादी सम्पन्न देशों के बीच की बैठक थी,जिसका मुख्य उद्देश्य मिल-जुल कर साम्राज्यवाद विरोध करना था।

वैसे कई बार जब अरविन्द तथ्यों पर गौर करते हैं, तो वे इस वास्तविकता को स्वीकारते भी हैं। अपनी किताब के एक पृष्ठ पर वे लिखते हैं : *''पिछले दशक में, जैसे-जैसे वैश्वीकरण की प्रक्रिया घनीभूत होती गयी हम देश के सम्प्रभु अधिकारों पर एक विशाल संघात देखते हैं, जिसमें साम्राज्यवाद के दबाव में देश के लगभग सारे कानून बदल दिये गये हैं...''(वही,पृष्ठ-167)*

यहां अरविन्द कानून की चर्चा कर रहे हैं, राजनीतिक अधिकारों की चर्चा कर रहे हैं। यहां सम्प्रभुता से उनका मतलब आटार्की से नहीं है। यहां वे वैश्वीकरण के दशक के पहले, देश के पास संप्रभु अधिकारों (राजनैतिक सम्प्रभुता) की स्थिति को स्वीकारते हैं। लेकिन यह एक विरोधाभासी स्थिति है - सूत्रीकरण झूठी (fake) आजादी का और जिन्दगी के वास्तविक तथ्य राजनीतिक स्वतंत्रता की मौजूदगी और उसके ह्रास के । इस विरोधाभास की समाप्ति दो तरीकों से हो सकती है-एक यह कि जिन्दगी की वास्तविकता को देखना बन्द कर दिया जाय और केवल सूत्रों का जाप करते हुए दिन काटे जायें। दूसरा यह कि जिन्दगी की वास्तविकता के अनुरूप सही व नया सूत्रीकरण बनाया जाय। हम चाहेंगे कि अरविन्द दूसरा वाला तरीका अपनायें। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनकी साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थितियां जिन्दगी के ज्यादा समरूप होंगी। इसमें हम सभी का हित है।

साम्राज्यवादी पैठ, किस हद तक ?

अरविन्द इस विषय पर, साम्राज्यवादी पैठ के सवाल पर जब लिखते हैं तो वे आत्मसमर्पण, निर्लज्ज आत्मसमर्पण की बातें करते हैं। उनकी बात से ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यवादियों ने देश की अधिकांश परिसम्पत्तियों पर कब्जा कर लिया है, जो थोड़ी बहुत बची है, बहुत जल्द उन पर भी साम्राज्यवादियों का मालिकाना हो जायेगा।

इसकी एक बानगी यह है: *''राष्ट्र-पारी निगम पूरे सार्वजनिक क्षेत्र पर कब्जा कर रहे हैं, इसके साथ ही वे अर्थव्यवस्था की निर्णायक ऊँचाइयों (commanding hights) पर अपना शिकंजा कस लेंगे, और वे देश पर अपने नियंत्रण को और सुदृढ़ कर लेंगे।''(वही, पृष्ठ-128)*

इसे या इससे मिलती-जुलती बातों को पढ़ने पर प्रतीत होता है कि भारत पर साम्राज्यवादी कब्जे की प्रक्रिया पूर्णता की मंजिल में प्रवेश कर चुकी है। कि इस साम्राज्यवादी कब्जे की प्रक्रिया कुछ ही वर्षों में पूरी हो जायेगी, यदि भारत में इंकलाब न हुआ। जिस तथ्य के सहारे यह बात स्थापित की गयी है,आइये उसे थोड़ा गहराई से परखा जाय। तथ्य यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र का बहुत तेजी से विनिवेश हो रहा है और विनिवेश की गयी कम्पनियों को साम्राज्यवादियों ने खरीद लिया है। सच्चाई क्या है?क्या वाकई भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के मुख्य हिस्से का विनिवेश हो गया है और साम्राज्यवादियों ने इसे खरीद लिया है। तथ्य यह है कि आर्थिक सुधारों के 12 वर्ष बाद भी, सरकार द्वारा बाकायदा एक नये मंत्रालय - विनिवेश मंत्रालय के गठन के बाद भी, सार्वजनिक क्षेत्र की कुल परिसम्पत्तियों में से

अभी तक 2% का ही विनिवेश किया गया है, कि अभी भी 98% से ज्यादा परिसम्पत्तियां साम्राज्यवादियों के हाथ में नहीं भारत सरकार के पास हैं। अर्थात् अर्थव्यवस्था की निर्णायक ऊँचाईयां भारत सरकार के कब्जे में हैं न कि साम्राज्यवादियों के हाथ में। दूसरा, यह कि जिन थोड़ी सी कम्पनियों का विनिवेश हुआ है उनमें से अधिकांश को साम्राज्यवादियों ने नहीं भारतीय पूंजीपतियों ने खरीदा है। अर्थात् यह कि यदि विनिवेश साम्राज्यवादियों के लिये फायदे की चीज है, तो वह उतना ही देशी पूंजीपतियों के लिये भी फायदेमंद है।

मूल बात यह कि अरविन्द अब तक हुई साम्राज्यवादी पैठ के बारे में बहुत जगह एक ऐसी अतिरंजित तस्वीर पेश करते हैं, जो कि वास्तविकता से मेल नहीं खाती है। वे यह गलत निष्कर्ष निकाल बैठते हैं कि देशी पूंजीपति तो साम्राज्यवादियों की कठपुतली हैं, कि इनकी अपनी कोई हैसियत नहीं है, कि इनका अपना कोई वजूद नहीं है। जीवन की सच्चाई यह बता रही है कि भारत के देशी पूंजीपति वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अपने आत्मनिर्णय के तहत अपने फायदे के लिये शामिल हुए हैं, कि इस फैसले में साम्राज्यवादियों की भी इच्छा है और उनका दबाव भी है लेकिन इस सारे कुछ के बावजूद इस निर्णय को भारत के बड़े पूंजीपतियों ने अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता इस्तेमाल करते हुए अन्ततः स्वयं ही लिया है । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन, डावोस के विश्व आर्थिक मंच की शर्तों इत्यादि का जो बयान अरविन्द करते हैं वह सब साम्राज्यवादी दबाव है, आत्मनिर्णय के स्थान पर परनिर्णय नहीं। ऐसी गलतियां (अर्थात् गलत सूत्रीकरण) तब अक्सर हो जाती हैं जब हम तथ्यों से प्रस्थान करने के बजाय (और तथ्यों की गहराई में जाने के बजाय) पूर्वधारणा या अतीत के चौखटे को अपना प्रस्थान बिन्दु बनायें, उसी से चिपके रहने की हठ करें।

एक और बात ली जाय। विदेशी पूंजी निवेश का सवाल। भारत में 1991 के पहले भी बन्द,आटार्किक अर्थव्यवस्था के जमाने में भी साम्राज्यवादी कुछ हद तक पूंजी निवेश करते थे। अरविन्द ने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि ''वैश्वीकरण = विशाल विदेशी पूंजी निवेश''। इस बात को कहते हुए, 1991 के बाद 'अत्यधिक विदेशी पूंजी निवेश के कई आंकड़े देकर अरविन्द बताना चाहते हैं कि कैसे 1991 के बाद भारत पर साम्राज्यवादी शिकंजा कसता गया है। क्या यह बात सही है कि 1991 के बाद भारत में विदेशी पूंजी निवेश की मात्रा में अच्छा-खासा अन्तर आया है जो कि अरविन्द के इस निष्कर्ष को साबित करता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था देशी पूंजीपतियों के हाथ से निकल कर(मजूरों/किसानों के हाथ में वह कभी नहीं थी, इस बात पर हम और अरविन्द दोनों एकमत है) साम्राज्यवादियों के पूरे नियंत्रण में सिमट रही है? कम से कम पूंजी निवेश सम्बन्धी आंकड़े तो यह नहीं साबित करते हैं। यदि हम इधर- उधर से छिटपुट आंकड़ों को न लें बल्कि उन आंकड़ों को लें जो कि दशकों की समग्र तस्वीर प्रस्तुत करते हैं तो अरविन्द के ही आंकड़े दूसरी बात स्थापित करते हैं। चलिये, '80 व '90 के दशक की तुलना की जाय। ऋण-पूंजी के बारे में अरविन्द बताते हैं कि '80 के दशक में कुल विदेशी ऋण 20 अरब डालर से बढ़कर 83.7 अरब डालर हो गया (पृष्ठ-52), यानि कि कुल 63.7 अरब डालर की वृद्धि। '80 के दशक में अप्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FPI,FII,GDR,ADR इत्यादि) सम्भव नहीं था क्योंकि इस पर पूर्ण रोक थी। ऋण पूंजी के अलावा विदेशी पूंजी भारत में प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश(FDI) के रूप में ही आ सकती थी। '80 के दशक के लिये FDI के आंकड़े अरविन्द ने नहीं प्रस्तुत किये परन्तु हमारे आंकड़ों के मुताबिक यह कभी भी 2.8 अरब डालर के स्तर से ऊपर नहीं गया। (ऐसा इसलिये कि उस दशक में FDI के रास्ते में भी कई बंदिशें थी) अर्थात् '80 के दशक में भारत में जो विदेशी पूंजी आयी वह 63.7+2.8=66.5 अरब डालर से ज्यादा नहीं हो सकती। '90 के दशक के लिये अरविन्द बताते हैं कि

कुल विदेशी ऋण 100 अरब डालर के उच्च स्तर को छू चुका है,यानि कि इस दशक में 16.3 अरब डालर (100-83.7=16.3) विदेशी-पूंजी ऋण-पूंजी के बतौर आयी। पृष्ठ-55 पर अरविन्द कहते हैं *''अतः हमने पिछले अध्याय में देखा कि पिछले दशक में 73 अरब डालर विदेशी पूंजी (FDI+FII+GDR) के बतौर अन्दर आयी ...''*। यदि इस 73 अरब डालर के आंकड़े में '90 के दशक के 16.3 अरब डालर के विदेशी ऋण को जोड़ दिया जाय तो यह रकम 89.3 अरब डालर पहुंच जाती है। अब '80 के दशक के 66.5 अरब डालर एवं '90 के दशक के 89.3 अरब डालर की तुलना की जाय तो यह वृद्धि है परन्तु उतनी बड़ी एवं सनसनीखेज नहीं है जितनी अरविन्द अपने पाठकों को संप्रेषित करना चाहते हैं। मात्र 33% की वृद्धि! कम से कम '90 के दशक में हो रहा पूंजी निवेश इतना ज्यादा नहीं है कि वह अरविन्द की थीसिस की पुष्टि करता हो - यह कहीं से भी ''विशाल पूंजी निवेश'' नहीं बनता। जब इस '90 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था के आकार में हुई बढ़ोत्तरी के सापेक्ष देखा जाय तो अरविन्द की बात और भी कमजोर हो जाती है।

एक अन्य तरीके से अरविन्द ने भारत की अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवादियों की पैठ के अत्यधिक उच्च स्तर को दिखाने की कोशिश की है। अध्याय IX में अरविन्द ने यह जोड़ा है कि भारत से कितनी पूंजी हर वर्ष देश के बाहर चली जाती है। तालिका IX.1 में इसको विभिन्न माध्यमों से प्रस्तुत किया गया है। तालिका में हर वर्ष बाहर जाने वाली रकम का कुल योग 65 अरब डालर है। अरविन्द इसे एक 'विशाल रकम' (gigantic figure) मानते हैं। यह निस्संदेह एक बड़ी रकम है। परन्तु यह अपने आप में कहीं से भी इस बात पर कोई रोशनी नहीं डालती है कि साम्राज्यवादियों की तुलना में भारतीय पूंजीपति कहां खड़े हैं। इसका अंदाज तभी लग सकता है जब भारतीय पूंजीपतियों के हाथ लगने वाली नयी पूंजी(या अतिरिक्त मूल्य) को भी देखा जाय। यही काम अरविन्द नहीं करते हैं। इसे बिना किये वे भारतीय पूंजीपतियों को साम्राज्यवादियों की गोद का कुत्ता (lap dog) बता देते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में हर वर्ष हमारी गणनाओं के मुताबिक देशी स्रोतों से 95-100 अरब डालर नवीन पूंजी निर्माण हो रहा है। निश्चय ही देशी पूंजीपतियों के हाथ लगने वाला बेशी मूल्य इससे ज्यादा है क्योंकि उनकी निजी खपत एवं विदेशों में इनके द्वारा भेजा जाने वाला धन (जो कि अरविन्द द्वारा बताये गये 65 अरब डालर में शामिल है) इसी बेशी मूल्य के हिस्से हैं। चलिये, देशी पूंजीपतियों को थोड़ा गरीब मान कर भी यदि हम तुलना करें और विदेश जाने वाले सारे धन को साम्राज्यवादियों की सम्पत्ति मान लें तब भी यह बड़ी अजीब बात है कि 'मालिक' को भारतीय अर्थव्यवस्था से केवल 65 अरब डालर प्रतिवर्ष मिले जब कि 'गोद के कुत्ते' को 95 अरब डालर। यह तुलना यही बताती है कि जिसे गोद का कुत्ता माना जा रहा है, वह वर्ग दरअसल इतना कमजोर नहीं है। जो वास्तविक स्थिति है उसमें यही संभव है कि साम्राज्यवादी इन्हें अपने हिस्सेदार (पार्टनर) की हैसियत दें। सच्चाई भी यही है कि साम्राज्यवादी एवं देशी पूंजीपति एक हिस्सेदारी (पार्टनरशिप) कायम करके भारत के मजदूरों एवं मेहनतकशों को लूट रहे हैं।

मूल बात यह है कि इससे कोई इंकार नहीं कि भारत में साम्राज्यवादी पैठ हो रही है और इस पैठ का स्तर भी बढ़ा है। परन्तु यह पैठ इतनी नहीं है कि साम्राज्यवादी भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने नियंत्रण में कर लें। साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यतः अभी भी देशी पूंजीपतियों के हाथ में है और उनके द्वारा नियंत्रित है।

साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब का सवाल

अरविन्द ने अपनी पुस्तक में एक पूरा अध्याय 'ग्रामीण ठहराव' पर लिखा है। विभिन्न वर्गों पर वैश्वीकरण के असर वाले अध्याय में भी देहात एवं किसानों इत्यादि पर बातें हैं। हैरानी की बात यह है कि अरविन्द ने देहात में साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब (social prop) के मुद्दे को छुआ तक नहीं। इस मुद्दे को छोड़ने की निश्चित वजह है। आज के जमाने में, वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में उसी बात को दोहराना सम्भव नहीं है जो औपनिवेशिक जमाने में कही जाती थी कि देहात के सामन्ती जमींदार साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब है। उस जमाने में अंग्रेज साम्राज्यवादी जमींदारों को जमींनें आवंटित करते थे और जरूरत पड़ने पर आवंटन के मालिक को बदल भी दिया करते थे। बदले में, जमींदार किसानों से वसूली गयी दौलत का एक हिस्सा खिराज के बतौर दिया करते थे। जमींदारी बनाये रखने के लिये इन लोगों को अंग्रेजों की बहुत जरूरत थी, इस वर्ग का पूरा अस्तित्व ही ब्रिटिश उपनिवेशवादियों एवं उनकी राजसत्ता पर टिका हुआ था। ये लोग देहात में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के सामाजिक अवलम्ब थे।

वैश्वीकरण के वर्तमान दौर के साम्राज्यवाद के काल में देहाती भूस्वामियों की अपनी जागीरों के लिये साम्राज्यवादियों पर निर्भरता दिखाना संभव नहीं है। यदि अरविन्द इस मुद्दे की गहराई में उतरते तो उन्हें वर्तमान में ऐसा कोई रिश्ता नहीं दिखाई पड़ता। तब वे इस पहेली से जूझने के लिये बाध्य होते कि क्या भारतीय देहात में साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब बदल गया है? इस प्रश्न के उठ खड़े होने के साथ ही 'अर्ध-सामन्ती अर्ध-औपनिवेशिक' चौखटा हिलने लगता। और यदि अरविन्द इस निष्कर्ष पर पहुंचते कि 21वीं सदी के भारतीय देहात में साम्राज्यवाद के सबसे करीबी मित्र देहाती पूंजीपतियों की जमात है तो 'अर्ध-सामन्ती,अर्ध-औपनिवेशिक' चौखटा पूरी तरह से ढह जाता। वैसे यदि अरविन्द संजीदगी से इस बात पर विचार करें कि भारतीय देहात में 1991 से ही लगातार किन चीजों ने सबसे ज्यादा साम्राज्यवाद के पक्ष में माहौल बनाने में भूमिका निभाई है तो वे पायेंगे कि टी.वी. चैनलों के कार्यक्रमों के अलावा स्थानीय पूंजीपतियों के अखबारों ने साम्राज्यवादी संस्कृति एवं मूल्यों के प्रति आकर्षण पैदा करने में अच्छी-खासी भूमिका निभायी है। देहात में बड़े किसानों,फार्मरों,डिस्टीब्यूटरों ट्रासपोर्टरों,धान मिल-मालिकों, कोल्ड-स्टोरेज मालिकों, अन्य ग्रामीण उद्योगों के मालिकों इत्यादि के लड़कों एवं अन्य परिजनों ने ही सबसे तेजी से साम्राज्यवादी संस्कृति को अपनाया है और ये ही लोग इसके प्रबल रक्षक भी हैं। आज भारतीय देहात में बहुत साफ दिखाई देता है कि ये नये लोग उन बूढ़े-खूसट सामंतों से भिन्न लोग हैं, जो कि अंग्रेज अफसरों एवं ब्रिटिश सत्ता का गुणगान करते नहीं थकते थे। ये उपभोक्तावादी लोग ब्रिटिश राजघराने एवं ब्रिटिश नौकरशाही के प्रति कोई आकर्षण नहीं महसूस करते परन्तु ये अमेरिकी जीवन-शैली एवं वैभव से करीबियत महसूस करते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय देहात में साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब बदल चुका है। अरविन्द को इस अहम् मुद्दे पर चुप लगाने के बदले इसका विश्लेषण करना चाहिये। यह परिवर्तन एक बड़ी परिघटना का परिणाम है जिसे समझने की जरूरत है।

इस मुद्दे पर अपनी बात पूरी करने के पहले हम एक और नुक्ते पर दो शब्द कहेंगें। साम्राज्यवादपरस्त देहाती पूंजीपतियों का यह वर्ग भारत के इजारेदार घरानों की श्रेणी में नहीं आता है। सामान्यतः इन लोगों की आर्थिक हैसियत भारत के मझौले पूंजीपतियों से नीचे है और ये 'स्माल स्केल सैक्टर' की ऊपरी परत से भी गरीब हैं। इसके बावजूद ये देहात में साम्राज्यवादी मूल्यों व संस्कृति के वाहक हैं, न कि राष्ट्रवादी मूल्यों एवं संस्कृति के। इनके शहरी गैर-इजारेदार बड़े भाई (मझौले एवं छोटे पूंजीपति) इनसे भी ज्यादा साम्राज्यवादपरस्त हैं। उनकी भारत भक्ति या राष्ट्रवाद तो और भी नहीं दिखाई पड़ता। भारत और दुनिया के मौजूदा आर्थिक

संकट में अपनी खराब हो रही हालत पर यदि ये कभी-कभार कुछ गरम हो उठते हैं तो इनका यह जोश वैसा ही है जैसा '90 के दशक में भारत के इजारेदार पूंजीपतियों ने अपने लिये 'लेवल-प्लेइंग फील्ड' की मांग की थी। सौदेबाजी के लिये मचायी जाने वाली चीख-पुकार करने वाले लोगों को क्रांतिकारी अर्थों में, साम्राज्यवाद- विरोधी संघर्ष में भावी संश्रयकारी मानने की गलती नहीं की जानी चाहिये। आज भारतीय पूंजीपतियों का पूरा का पूरा वर्ग (इजारेदार,मझौले,छोटे ग्रामीण पूंजीपति सभी)ही भारत में साम्राज्यवादी पैठ का माध्यम बना हुआ है। वर्तमान भारत में साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब अब यह वर्ग बन चुका है। 21वीं सदी के भारत की सामाजिक स्थितियां वैसी नहीं है जैसी तेलंगाना आन्दोलन के जमाने में थी।

एक गम्भीर भटकाव

इस पुस्तक की अनेक छोटी-छोटी कमजोरियां हैं। इस आलोचना में हमने मुख्य कमजोरियों पर ही बातें केन्द्रित की हैं। आलोचना के अन्त में हम अरविन्द के गैर-सर्वहारा,राष्ट्रवादी भटकावों की बात उठाना चाहते हैं। वैसे तो यह भटकाव पूरी पुस्तक में मौजूद है,लेकिन यह अधिक स्पष्टता से प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश (FDI) के सम्बन्ध में तथा विनिवेश (disinvestment) के सम्बन्ध में अरविन्द ने जो बातें कही हैं, वहां दिखाई पड़ता है।

प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश (FDI) पर अरविन्द ने पृष्ठ 44 से 49 के बीच जो बातें कही हैं, वहां यह राष्ट्रवादी भटकाव काफी स्पष्ट है। FDI के विरोध में कई तर्क देते हुए अरविन्द यहां तक कह डालते हैं *''यह विदेशी पूंजी किसी भी तरह से समाजोन्मुखी (social orientation) नहीं होती है और अर्थव्यवस्था को अपने प्रतिबिंब के बतौर विकसित करती है।''* का. अरविन्द उक्त बात कह कर न चाहते हुए भी, नेहरूवादी अर्थशास्त्रीयों द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंकों एवं सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष को स्थापित करने के लिये 'समाजोन्मुखी' के मिथक के वाहक बन जाते हैं। यह ठीक नहीं है। मार्क्सवाद इस बात पर बहुत स्पष्ट रहा है कि पूंजी चाहे जैसी भी हो, देशी या साम्राज्यवादी, कभी भी समाजोन्मुखी नहीं होती, कि समाज की लूट एवं श्रम के शोषण पर ही वह फूलती-फलती है। अपने चरित्र एवं गति में वह समाज उपयोगी हो ही नहीं सकती है। उसकी गति के चलते ही समाज का कहीं-कोई भला हो जाये तो यह पूंजी का उप-उत्पाद (by product) होता है। पूंजी की मूल गति के चलते उत्पादन-शक्तियों का विकास होता है, बस इसी मामले में पूंजी प्रगतिशील होती है। अरविन्द को उक्त बात लिखने की कोई जरूरत नहीं थी। ऐसी बातें वर्तमान वैश्वीकरण के आलोचक पुराने नेहरूवादी अर्थशास्त्री लिखते हैं,सर्वहारा अर्थशास्त्री नहीं। इससे देशी पूंजी के प्रति मोह ही पनपता है।

पृष्ठ-48 पर अरविन्द इस बात को लेकर परेशान हैं कि कैसे FDI के जरिये साम्राज्यवादियों ने धीरे-धीरे भारतीय पूंजीपतियों की कम्पनियों पर कब्जा कर लिया, कि पहले वे संयुक्त-उद्यमों में अल्पमत शेयरों के मालिक थे फिर बहुमत के मालिक बन गये, फिर कम्पनियां पूर्णतः उनकी हो गयी। यदि ऐसा हो रहा है तो भी यह किसी राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री के लिये तो मुद्दा हो सकता है, लेकिन सर्वहारा के लिये नहीं। सर्वहारा, नये साम्राज्यवादी मालिक की जगह पुराने देशी मालिक की बहाली के लिये कोई लड़ाई नहीं लड़ेगा। वह एक वर्ग के बतौर अपने हितों की बात करेगा और क्या मालिकाने में परिवर्तन से उसके वर्ग के काम एवं जीवनयापन की स्थितियों पर कोई असर पड़ रहा है या नहीं । यदि असर पड़ रहा है और वह नकारात्मक तो वह उसका विरोधी है वरना नहीं, तरह-तरह के पूंजीपतियों के बीच मालिकाने में परिवर्तन अपने आप में सर्वहारा के लिये कोई मुद्दा नहीं बनता है।

अरविन्द के लिये यह परिवर्तन अपने आप में मुद्दा है इसलिये इन पृष्ठों में (FDI पर इस उप-शीर्षक के तहत) वे सर्वहारा के जीवन एवं कार्य की स्थितियों को संदर्भ बनाये बगैर निरपेक्ष ढ़ंग से इसके विरोध में पैरा के बाद पैरा लिखते चले जाते हैं। यदि FDI का विरोध सर्वहारा वर्ग के जीवन एवं कार्य की स्थितियों पर पड़ने वाले नकारात्मक असर लेकर नहीं हो रहा है, तो वह कोरा राष्ट्रवाद है जिसमें सर्वहारा क्रांतिकारियों की कोई दिलचस्पी नहीं होनी चाहिये।

अपने समूचे वर्ग के जीवन एवं कार्य की स्थितियों पर पड़ने वाले प्रभाव के अलावा एक और महत्वपूर्ण बात है,जिसके आधार पर वर्ग-सचेत सर्वहारा (कम्युनिस्ट) FDI के प्रति अपना रूख तय करेगा,वह है, FDI के प्रवेश से उत्पादक शक्तियों के विकास में आने वाले अन्तर से। यदि उत्पादक शक्तियों के विकास की गति में गिरावट आती है तो सामान्यतः सर्वहारा FDI का विरोध करेगा, और यदि उत्पादक शक्तियों के विकास की गति में तेजी आती है तो सर्वहारा FDI का विरोध नहीं करेगा। ऐसा इसलिये कि वर्ग सचेत सर्वहारा जानता है कि उत्पादक शक्तियों का विकास उसके लिये दीर्घकाल में फायदेमंद है, कि उत्पादक शक्तियों का उच्च स्तर क्रांति की लामबंदी एवं समाजवाद के निर्माण के लिये फायदेमंद है।

जो गलती अरविन्द FDI के मामले में करते हैं वही गलती वे विनिवेशीकरण पर लिखे गये अध्याय VII में करते हैं। अरविन्द निरपेक्ष ढंग से सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को निजी पूंजीपतियों के हाथों में सौंपने के खिलाफ हैं। यह दृष्टिकोण एक सर्वहारा दृष्टिकोण नहीं है। पूंजीवाद में रहते हुए मालिकाने में परिवर्तन, अर्थात् पूंजीपतियों द्वारा अपनी परिसम्पतियों की खरीद-बिक्री लगी रहती है, सर्वहारा इस बात को जानता है। ऐसे ही कभी-कभी राजकीय नीतियों की बदौलत निजी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है और कभी-कभी इससे उलटे विनिवेशीकरण होने लगता है। यदि सर्वहारा की कार्य एवं जीवन स्थितियों पर इसका कोई असर न पड़े तो इसमे उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि न तो राष्ट्रीयकृत उद्यम अभी रंचमात्र ही उसके हैं और न निजी उद्यम। जिस किस्म के मालिकाने के परिवर्तन में सर्वहारा दिलचस्पी है वह है हर प्रकार की निजी सम्पत्ति(सार्वजनिक एवं निजी उद्यम सभी) का उन्मूलन और उसका समाजवादी सम्पत्ति में परिवर्तन। मालिकाने के अन्य परिवर्तन सर्वहारा के कार्य एवं जीवन-स्थितियों पर असर के सापेक्ष ही कोई मुद्दा हैं। अरविन्द के विश्लेषण में चूंकि यह संदर्भ गायब है,चूंकि वह विश्लेषण सर्वहारा के निरपेक्ष है इसलिये वह राष्ट्रवादी भटकावों, सार्वजनिक-क्षेत्रवादी भटकावों को जन्म देगा ही। पाठकों के दिमाग में यह बात बैठेगी कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम निजी उद्यमों से कुछ भले होते हैं।

अन्त में -

हालांकि यह पुस्तक वैश्वीकरण/साम्राज्यवाद विषय पर पक्षधर लेखन है और इसे लिखने में पर्याप्त मेहनत की गयी है लेकिन तब भी यह कम्युनिस्ट आन्दोलन के सुदृढ़ीकरण एवं साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन में अपनी पक्षधरता एवं की गयी मेहनत के अनुरूप योगदान नहीं कर पायेगी। ऐसा इसलिये क्योंकि इसमें दो बड़ी कमियां हैं। पहली यह कि लेखक के दिमाग में जो सैद्धान्तिक चौखटा है, अर्ध-सामंती अर्ध-औपनिवेशिक चौखटा, वह भारत के वर्तमान यथार्थ से बेमेल है। इसके चलते वे ढेर सारी घटनाओं/चीजों की कोई सही व्याख्या नहीं कर पाते, हैं या पाठक के मन में उठे ढेर सारे प्रश्नों के जवाब नहीं दे पाते हैं मसलन ऐसे सवाल कि इतने साम्राज्यवादी हस्तक्षेप व नियंत्रण के बावजूद मई, 1998 में भारत ने

कैसे परमाणु परीक्षण कर डाले और फिर अब तक परमाणु अस्त्र परिसीमन संधि (CTBT) पर हस्ताक्षर क्यों नहीं किये, इत्यादि।

दूसरी बड़ी कमी सैद्धान्तिक चौखटे की उतनी ज्यादा नहीं है, जितनी की लेखक की अपनी राजनीतिक समझ के स्तर से पैदा होती है (हालांकि सैद्धान्तिक चौखटे का प्रभाव इस पर भी पड़ता है)। राष्ट्रवादी भटकावों के बतौर हमने इस कमी को चिन्हित किया। उम्मीद की जानी चाहिये कि लेखक एवं उसके मित्र 'लाल सलाम' की इस आलोचना को सही भावना में लेंगे और भविष्य में हमें अरविन्द की कलम से इससे ज्यादा धारदार साम्राज्यवाद-विरोधी लेखन पढ़ने को मिलेगा।

□ □ □